स्वच्छता के दावेदार

समकालीन दिल्ली में पर्यावरण और इंसाफ़

अवधेन्द्र शरण

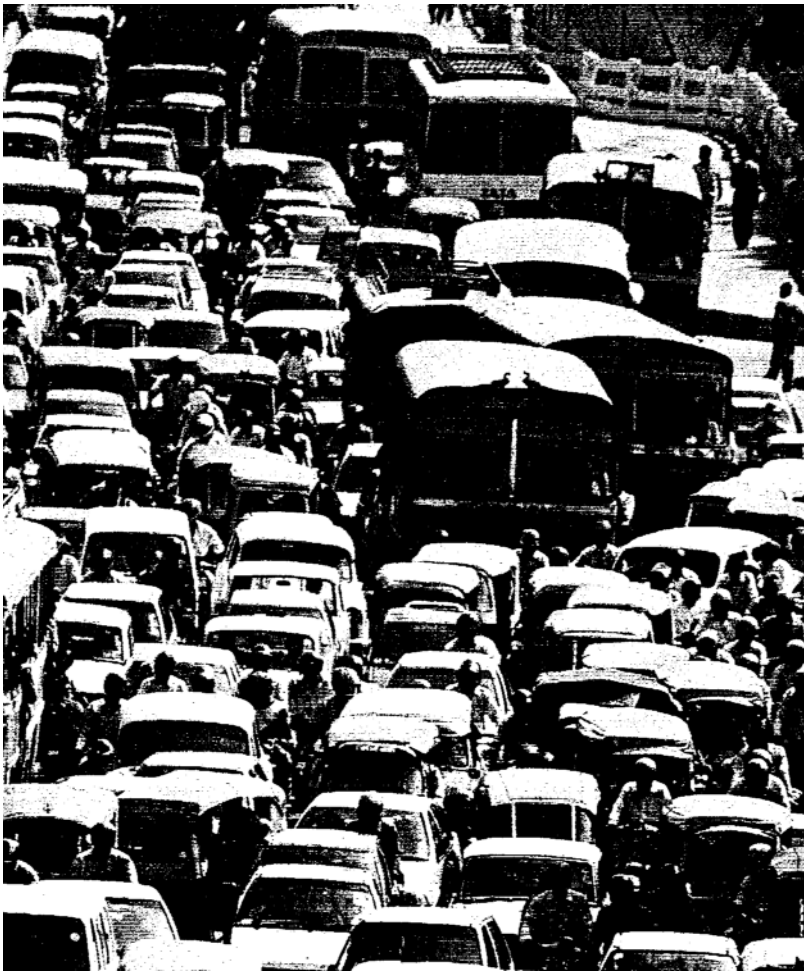

"नई दिल्ली गराज मालिकों का स्वर्ग होगी। यहाँ पेट्रोल के बिना ज़िंदगी ग़ैर-मुमकिन होगी... शहर की योजना सबसे बड़े नौकरशाह की दफ़्तरी मेज़ के इर्द-गिर्द बुनी जाएगी, जहाँ हमारे साम्राज्य की तमाम रेलवे लाइनों, तार व सड़कों का संगम तो हो जाएगा लेकिन यहाँ इसकी आत्मा को ठिकाना नहीं मिल पाएगा।"[1]

"सार्वजनिक स्वास्थ्य का ताल्लुक़ जनता से है... उन्नीसवीं शताब्दी के सार्वजनिक स्वास्थ्य... को इस काल की जनता की अवधारणा (जनमत, जनहित आदि) के स्तुतिगान के संदर्भ में ही समझा जाना चाहिए।"[2]

आज की दिल्ली काम करने और रहने की चाह के बीच बेचैनी से झूलती दिखती है। जहाँ नज़र डालिए, शहर में एक क़िस्म की जल्दबाज़ी और अफ़रा-तफ़री दिखाई देती है। यह अफ़रा-तफ़री ज़िंदगी और काम के बीच चलने वाली इस जद्दोजहद में उलझे आदमी को एक हानि-लाभ के अजीब दुष्चक्र में डाल देती है — 'जनता' के लिए साफ़ और तरोताज़ा हवा का इंतज़ाम करना ज़रूरी है, फिर भले ही इसके लिए लोगों की नौकरियाँ चली जाएँ, शहर के हित में साफ़ ईंधन का भी इंतज़ाम करना है भले ही उसकी वजह से ऑटोवालों को रात-दर-रात पेट्रोल पम्प के सामने क़तार में गुज़ारनी पड़े। (लब्बोलुआब ये कि जिनके लिए इतने इंतज़ामात हो रहे हैं उन्हीं की ज़िंदगी बेआराम हुई जा रही है।) भारी ऊँच-नीच वाले इस शहर की आधुनिक बुनियाद इस सिद्धांत पर रखी गई थी कि लोगों की हैसियत को आवासीय श्रेणियों और 'केंद्र' से दूरी के आधार पर कूटबद्ध किया जाएगा। ज़ाहिर है ऐसे शहर में साफ़ आबो-हवा की चाह में टकराहट की पूरी गुंजाइश है। आदर्श स्थिति में ऐसा होना ज़रूरी नहीं है। सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद 21 की रचनात्मक व्याख्या की है। व्याख्या में कहा गया है कि राज्य को हर लिहाज़ से इंसाफ़ और निष्पक्षता का ख़याल रखना चाहिए। अपनी व्याख्या में न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर कहते हैं, "जीवन के अधिकार का मतलब है आजीविका का अधिकार, सम्मानजनक ज़िंदगी का अधिकार। इसका मतलब है प्रत्येक नागरिक को स्वास्थ्य, पीने के पानी, प्रदूषण मुक्त वातावरण और जीने लायक़ जैवमंडल का अधिकार मिले। ये सभी जीवन के अधिकार का हिस्सा हैं।"

आज दिल्ली और बाक़ी शहरी भारत की सबसे बड़ी दुविधा 'जीवन के अधिकार' की परिभाषा या उसके आशय को लेकर नहीं है। यह दुविधा इस शहर में निहित अंतर्विरोधों को ही लेकर है — एक तरफ़ मेहनतकशों की आजीविका का सवाल है और दूसरी तरफ़ सार्वजनिक स्वास्थ्य का, एक तरफ़ इज़्ज़तदार ज़िंदगी का सवाल है तो दूसरी तरफ़ एक 'साफ़' शहर की चाह है।

यह दिल्ली का पहला सफ़ाया अभियान नहीं है। दिल्ली में घिच-पिच बसाव, हवा की आवाजाही, गंदगी की निकासी, हरियाली के पोषण और हानिकारक व्यवसायों को लेकर उठने वाली चिंताएँ उन्नीसवीं सदी के मध्य से ही दिखाई देने लगी थीं। कुछ दशक पहले शहर की स्वच्छता की ख़ातिर झोंपड़पट्टियों और दूधियों को शहर से बेदख़ल किया गया था। इस प्रसंग में एक ध्यान रखने वाली बात यह है कि औपनिवेशिक काल के नगर नियोजन का मक़सद एक नस्ली फ़र्क़ को रेखांकित करना था। यह आश्चर्य की तो नहीं परंतु दिलचस्प बात ज़रूर है कि औपनिवेशिक नियोजन को भी जनहित में ही वाजिब ठहराया जाता था। शहर से झोंपड़पट्टियों को यह मानकर हटाया गया था कि "शहर में अनगिनत घटिया झोंपड़पट्टियाँ पैदा हो चुकी हैं जहाँ की गंदी गलियाँ और दरबे जैसे मकान दिल्ली के समूचे शहरी इलाक़े में जनता की सेहत के लिए एक भयानक ख़तरा हैं।"[3] आज़ादी के बाद लोकतांत्रिक तौर-तरीक़ों की हवा बहने लगी। इन नए तौर-तरीक़ों की माँग थी कि अब तक ऊपर से सुधार का जो तरीक़ा अपनाया जाता था उस पर अंकुश लगाया जाए। सार्वजनिक स्वास्थ्य की देखभाल में स्थानीय आकांक्षाओं के प्रति संवेदनशीलता और सामुदायिक सहभागिता की ज़रूरत महसूस की जाने लगी। परंतु इमरजेंसी के दौरान झोंपड़पट्टियों के सफ़ाये की मुहिम में ये सारी अच्छी-अच्छी बातें तार-तार हो गईं। शहर के इर्द-गिर्द पुनर्वास बस्तियाँ अस्तित्व में आने लगीं। इन बस्तियों में सड़क, जलापूर्ति, साफ़-सफ़ाई और पार्कों के साथ-साथ छोटे-छोटे उद्योग-धंधे भी चलने लगे जहाँ लोगों को रोज़गार मिल सकता था। ज़ाहिरा तौर पर "यह सामाजिक क्रांति की दिशा में उठाया गया एक ऐतिहासिक क़दम था, एक ऐसा रुझान जो निकट भविष्य में शहरी ग़रीबों के लिए सामाजिक न्याय का रास्ता खोल देगा।"[4] बहरहाल, यह निकट भविष्य दूर ही होता गया, नज़दीक से देखने पर ऐसा लगता है कि ये बस्तियाँ भी "नियोजित झोंपड़पट्टियों"[5] से बेहतर नहीं हैं। संक्षेप में, हालाँकि शहरी पर्यावरण से संबंधित विमर्श एक औपनिवेशिक पुलिसिया राज की छत्र-छाया से निकल कर लोकतांत्रिक राजनीति के दायरे में आ चुका है परंतु इस विमर्श में ग़रीब-विरोधी भेदभाव यथावत क़ायम दिखाई देता है। और सामाजिक न्याय की लफ़्फ़ाज़ी भी शहर के ज़्यादातर बाशिंदों के लिए न तो इज़्ज़त की ज़िंदगी बख़्श पायी है और न ही साफ़ पर्यावरण का इंतज़ाम कर पायी है।

समकालीन पर्यावरणवाद

दिल्ली के पर्यावरण को लेकर चलने वाली समकालीन बहसों में लंबे समय से क़ायम इन रुझानों को एक तरफ़ तो हवा दी जा रही है और दूसरी तरफ़ उनसे फ़ासला बरता जा रहा है। एक बदलाव ये आया है कि इस विमर्श का दायरा अब ख़ूब फैल गया है। अब यह विमर्श सिर्फ़ झोंपड़पट्टियों की चिंता या किसी महामारी के भय या कल-कारख़ानों के लिए जगह के चुनाव तक सीमित नहीं है। अब इस विमर्श की ज़द में ये सभी (और कई नए) तत्त्व शामिल हैं। इस समुच्चय के चलते ही शहर के क्षैतिज बदलावों की प्रक्रिया में पहले से ज़्यादा गति और निर्ममता पैदा हुई है। नतीजा, इस शहर में रहना रोज़ाना एक नई शुरुआत बन गया है। आप रात को बैठ कर यक़ीन से नहीं कह सकते कि कल आप कहाँ से सब्ज़ियाँ ख़रीदेंगे/बेचेंगे, आवाजाही का समय/साधन क्या होगा, कूड़ा फेंकने के साधन/ज़रिए क्या होंगे या कल घर में पानी आएगा अथवा नहीं। 1994 में प्लेग का खौफ़, 1996 में डेंगू, उसी साल ख़तरनाक उद्योगों को बंद करने के लिए जारी किए गए अंतरिम आदेश, सन् 2000 में कारख़ानों के स्थानांतरण का दूसरा दौर, हाल के वर्षों में सीएनजी की मुहिम और इन तमाम सालों के दौरान झोंपड़पट्टियों (जहाँ के लोग दिल्ली के नागरिकों को मिलने वाले पानी और बिजली पर कथित रूप से 'डाका' डालते रहते हैं और जो दिल्ली के मध्यवर्गीय शहरियों को एक आँख नहीं सुहाते) का लगातार सफ़ाया — इन सारी बातों ने पर्यावरणीय ख़तरों के मुद्दे पर एक क़िस्म की जल्दबाज़ी का अहसास तारी कर दिया है। इन घटनाक्रमों के चलते अब यह एक बेइंतहा सार्वजनिक मुद्दा बन गया है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि दिल्ली की शक्लो-सूरत और सामाजिक ज़िंदगी को तय करने में पर्यावरण का मुद्दा सबसे अहम भूमिका निभा रहा है। अब यह 'विकास' की राह पर नाक की सीध में आगे बढ़ते हुए साफ़-सफ़ाई करते रहने भर का मुद्दा नहीं है। हालाँकि यह रवैया भी अभी क़ायम है लेकिन दूसरी तरफ़ अब यह सोच भी जड़ें जमाने लगी है "कि बिजली, सड़कों, तरक़्क़ी, और संपन्नता के साथ-साथ एक साफ़-सुथरे पर्यावरण का भी इंतज़ाम कर लेने में क्या बुराई है।"[6] अब खुद विकास का समूचा मॉडल ही दाँव पर है। इस बात का दबाव बढ़ता जा रहा है कि इस "ग़ैर-टिकाऊ, अवांछित, पारिस्थितिकीय दृष्टि से विनाशकारी और ग़ैर-बराबरी को बढ़ावा देने वाले मॉडल"[7] को रद्द किए बिना काम चलने वाला नहीं हैं।

दूसरे, पर्यावरणीय मुद्दों का रूप-रंग तय करने वाली भाषा में भी बदलाव आया है। यह बदलाव दो स्तरों पर दिखाई देता है। सूत्रीकरण के लिहाज़ से पहला बदलाव यह है कि अब प्रतीकों की जगह वैज्ञानिकता ने ले ली है। शहर के कचरे को रातोंरात बुहार कर बाहर फेंक देने का इरादा रखने वाले झाड़ूधारी स्थानीय भद्रजन — यह छवि अब अतीत का हिस्सा बन चुकी है। तस्वीरें खिंचवाने के लिए इस तरह की छवियों का महत्व भले ही बना रहे मगर अब ये तस्वीरें भी उबाऊ दिखती हैं। कोई उन्हें पहले वाली निगाहों से नहीं देखता। इनकी जगह अब हमें एक बिल्कुल नई शब्दावली दिखाई देती है — pH लेवल, साफ़ ईंधन, सस्पेंडेड (हवा में लटके हुए) पार्टिक्युलेट मैटर, कॉमन एफ़्ल्युएँट ट्रीटमेंट प्लांट्स वगैरह। अब मीडिया में और हमारे इर्द-गिर्द इन शब्दों की भरमार दिखाई देती है। SO_2 स्तर की जानकारी देने वाले इश्तहारी बोर्डों से लेकर शहर के प्रदूषण का ब्यौरा देने वाली मौसम संबंधी रिपोर्टों और तकनीकी मामलों की विशेषज्ञ समितियों पर आश्रित क़ानूनविदों तक, हर कहीं इन्हीं का बोलबाला है।[8] मेरी राय में, एक अस्पष्ट से राजनीतिक शब्दजाल की जगह वस्तुपरक विज्ञान की स्थापना पर्यावरण से जुड़े मुद्दों पर हमारे अवधारणात्मक तरकश में एक अहम बदलाव का संकेत है।

एक दूसरे स्तर पर 'सार्वजनिक' भाषा और व्यक्तिगत व्यवहार के विमर्श के बीच सहज तालमेल नहीं बैठ पा रहा है। प्लास्टिक के इस्तेमाल पर रोक, पटाखों से परहेज़ के बारे में विद्यार्थियों को दिए जाने वाले उपदेशों और यमुना की सफ़ाई के लिए चलाए गए स्वैच्छिक अभियानों आदि के स्थान पर अब इस बात की उम्मीद सी पैदा होने लगी है कि पर्यावरण के रखरखाव को एक ज़ाती ज़िम्मेदारी भी बनाया जा सकता है। अभी यह एक छोटा सा रुझान है जो नियमन से जुड़े मुद्दों के इर्द-गिर्द होने वाली बहसों की चकाचौंध में बहुधा फीका पड़ जाता है। परंतु मेरा ख़याल है कि इस सोच की अहमियत कहीं और है। इस बात की अहमियत शायद पर्यावरणीय आत्मसहजता और 'अपनी देखभाल खुद' की सोच पर पर एक नए आग्रह के बीच पैदा हो रहे तारतम्य और तालमेल में है। रेकी/योग, धूम्रपान-निषेध, सुरक्षित पानी, व्यायाम और संतुलित आहार आदि 'अपनी देखभाल

ख़ुद' की इसी सोच को प्रतिबिंबित करते हैं। यद्यपि यह आग्रह मध्य वर्ग की स्वास्थ्य संबंधी ज़रूरतों को संबोधित करता है लेकिन इसके लिए वृहत्तर शहरी समाज की भाषा का सहारा लिया जा रहा है। तर्क दिया जाता है कि पश्चिम में सार्वजनिक स्वास्थ्य का नया विमर्श व्यक्तिवाद, उपभोक्तावाद, पीड़ितों पर दोषमंडन, और उससे भी कहीं ज़्यादा बुनियादी तौर पर 'अधिकारों में निहित दायित्वों पर भी ज़ोर देने वाली नई नागरिक राजनीति'[9] से जुड़ा हुआ है। दिल्ली के मामले में यह कहना थोड़ी जल्दबाज़ी हो सकता है मगर इसमें कोई शक नहीं कि यहाँ 'स्व' और 'सर्व' की भाषाएँ एक-दूसरे में बुरी तरह उलझती जा रही हैं और यह तय है कि इस उलझाव से शहर की भावी शक्ल पर दूरगामी असर पड़ेंगे।

भाषा में आए बदलावों के साथ ही आज के शहरी पर्यावरणवाद का एक और ग़ौरतलब पहलू भी है। व्यवस्था तंत्र की संस्थागत संरचना में बदलाव आए हैं और इस नई व्यवस्था में अदालतें अहम भूमिका निभाने लगी हैं।[10] इस सिलसिले में दो मुद्दे एक-दूसरे से जुड़े हुए दिखाई देते हैं। पहला, वैधानिक सिद्धांतों में संशोधन, और दूसरा, (जैसा कि पीछे ज़िक्र किया जा चुका है) पर्यावरण से जुड़े मुद्दों पर विशेषज्ञ समितियों का बढ़ता दख़ल। जनहित याचिकाएँ न्याय का एक नया साधन बनी हैं और इस नई स्थिति से कई अहम बदलाव आए हैं। नतीजतन, 'न्याय का गुरुत्वाकर्षण केंद्र' 'परंपरागत व्यक्तिवाद' (अधिकारिता या *locus standi* एवं क्षति या tort) से हट कर 'समुदायोन्मुख' हो गया है। बुनियादी अधिकारों की व्याख्या में मार्गदर्शक सिद्धांतों का हवाला दिया जाने लगा है[11], 'एहतियाती उसूलों' को अपनाया जाने लगा है ताकि सुनिश्चित किया जा सके कि 'प्रदूषक ही हर्जाना भरे।' 'सच को साबित करने का भार' नए कंधों पर चला गया है और पीढ़ियों के बीच समता की सोच मान्यता पाने लगी है।[12] पर्यावरण को लेकर अस्तित्व में आए ताज़ा क़ानूनों के पीछे इन सभी पहलुओं की अहम भूमिका रही चाहे इन सबका असर एक जैसा न रहा हो। बहरहाल, यहाँ हम फ़ौरी तौर पर जो सवाल उठाना चाहते हैं वह पर्यावरणीय न्याय के क्षेत्र में न्यायालयों की सफलता और विफलता से नहीं बल्कि इस तथ्य से संबंधित है कि इन वैधानिक बदलावों पर भारी विवाद रहा है। इन बदलावों को संवैधानिक सिद्धांतों, लोकतांत्रिक तौर-तरीक़ों और नैतिकता के आधार पर चुनौतियाँ दी गई हैं। कहने का मतलब यह है कि क़ानून 'सार्वजनिक रूप से' काम करता है, जिसका आशय यह है कि सार्वजनिक स्वास्थ्य/सार्वजनिक हित के मुद्दों को अपनी सार्वजनिकता 'सार्वजनिक' के अन्य आयामों, सबसे ख़ासतौर से जनमत, के साथ संतुलन में आने पर ही प्राप्त होती है।

इसके विपरीत, विज्ञान व वैज्ञानिक प्रबंधन की भाषा तथा विशेषज्ञों की भूमिका पर ख़ास टीका-टिप्पणी नहीं हुई है। उन सिद्धांतों के बारे में हमें ज़्यादा सुनने को नहीं मिलता जिनके सहारे जोखिमों का वैज्ञानिक आकलन लगाया जाता है या उनके वैज्ञानिक समाधान सुझाए जाते हैं। न ही उन प्रसंगों और संदर्भों के बारे में ज़्यादा चर्चा होती है जिनके ज़रिए पर्यावरणीय 'भले' और 'बुरे' का आकलन किया जाता है। इस मुद्दे पर जो भी थोड़ी-बहुत सार्वजनिक बहस दिखाई देती है वह बेमतलब की छींटाकशी तक ही सीमित है। साफ़ ईंधन के मुद्दे पर बहस में उलझे विशेषज्ञों की नीयत को लेकर उनके बीच चल रही खींचातानी और दुराग्रह भरे आरोप-प्रत्यारोपों में यह बात साफ़ दिखाई देती है। कहने की ज़रूरत नहीं कि विशेषज्ञों के दृष्टिकोणों का भी आलोचनात्मक मूल्याँकन होना चाहिए। पर्यावरणीय जोखिम और उपचारक मानकों का मूल्याँकन एक वैज्ञानिक अनिश्चितता के संदर्भ में किया जाता है। इनके प्रभाव भी पूरे समाज में में पीढ़ी-दर-पीढ़ी महसूस किए जाते हैं। स्वाभाविक है कि इस आकलन में स्वायत्तता और एजेंसी जैसे बुनियादी सवाल भी निहित रहते हैं। पर्यावरणीय जोखिम का मतलब क्या होता है, कौन से जोखिमों को बर्दाश्त किया जा सकता है और कौन से जोखिमों को बर्दाश्त नहीं किया जा सकता है, या पर्यावरणीय विनाश के 'स्वीकार्य' स्तर का मतलब क्या है — हमारे पास इन बातों पर फैसला करने का कोई प्रदत्त पैमाना नहीं है। बल्कि इस हक़ीक़त को स्वीकार कर लेना ज़्यादा तर्कसंगत होगा कि अधिकांश पर्यावरणीय मुद्दों पर अलग-अलग वर्ग, लिंग, उम्र, सामाजिक हैसियत और भौगोलिक दूरी पर खड़े लोगों के बीच (प्रभाव, प्राथमिकताओं आदि के हिसाब से) भिन्नता ज़रूर रहेगी।

'भिन्नता' और पर्यावरणीय न्याय

'भिन्नता' और 'विशेषज्ञ ज्ञान' के बारे में विचार करते हुए हम दिल्ली में पर्यावरण संबंधी पुरानी और नई चिंताओं

के बीच दिखाई देने वाली निरंतरता पर पहुँच जाते हैं। निरंतरता इस बात में है कि पहले भी और अब भी पर्यावरण को लेकर उठने वाली चिंताओं में ग़रीब-विरोधी पूर्वाग्रह यथावत बना हुआ है। विडंबना यह है कि पर्यावरण से जुड़े मुद्दों के 'लोकतांत्रीकरण' के प्रभाव और उसकी वृहत्तर सार्वजनिक उपस्थिति से बहुत सारे हितों पर मानो पर्दा पड़ गया है। दिल्ली के पर्यावरण को लेकर होने वाली बहसों में दोनों ही पहलू दिखाई देते हैं — एक लिहाज़ से यह बहस बेहद व्यापक है तो दूसरी तरफ़ बेहद सीमित भी है। जब आज एक अमूर्त शहरी समाज की सेहत और पर्यावरणीय आवश्यकताओं को सामने रखा जाता है तो उस वक़्त भी इस बारे में समझ बहुत सीमित होती है कि अलग-अलग समुदायों की ज़रूरतों को कैसे पूरा किया जा सकता है या अलग-अलग समुदायों की पर्यावरणीय आवश्यकताओं के बीच पैदा हो रहे टकराव को कैसे हल किया जा सकता है।[13] यानी इस बात को बहुत कम मान्यता दी जा रही है कि पर्यावरण कोई अकेली इकाई नहीं है बल्कि वह बहुत सारे 'पर्यावरणों' में बँटा हुआ है। इसी से यह भी तय होता है कि पर्यावरण संबंधी जोखिमों को परिभाषित करने और उनका चुनाव करने के लिए सामुदायिक पात्रों के लिए अलग-अलग दायरे गढ़े जाएँ।

पर्यावरणवादी समाजशास्त्री बेक स्मॉग (धुआँसा : धुआँ जोड़ कुहासा) को लोकतांत्रिक मानते हैं।[14] संभवतः उनकी बात सही है। हमारे यहाँ, स्वास्थ्य और पर्यावरण पर केंद्रित सीएसई के न्यूज़लेटर में बताया गया है कि "तीव्र पर्यावरणीय बदलावों से पैदा हो रही आधुनिक बीमारियों की उभरती चुनौती व्यापक है और इससे ग़रीब व अमीर, दोनों समान रूप से प्रभावित होते हैं।"[15] इन नज़रियों का मक़सद 'क्षरण में समता' स्थापित करना नहीं है। इसीलिए ये दोनों प्रेक्षक अपनी राय के पक्ष में अतिरिक्त साक्ष्य देना नहीं भूलते। बेक की राय में, "ऐसा लगता है कि जोखिमों से वर्ग आधारित समाज का उन्मूलन नहीं होता बल्कि उसको और बल मिलता है।" दूसरी तरफ़ सीएसई का कहना है कि "ऐसी स्थितियों में सबसे बुरी मार ग़रीबों को झेलनी पड़ती है क्योंकि उन्हें औद्योगीकरण से पैदा हो रही बीमारियों और संसाधनों के तेज़ क्षरण, दोनों का सामना करना पड़ता है।" इसका मतलब है कि दिल्ली के पर्यावरण-सुधार अभियानों ने पहले से ही ग़रीबी की गर्त में पड़े लोगों को और हाशिए पर धकेला है। दिल्ली एक पुराना, प्राक्-औपनिवेशिक शहर है। यहाँ 'पुरानी दिल्ली' और लुटियंस के औपनिवेशिक लैंडस्केप से लेकर पचास-साठ के दशकों में बसी शरणार्थी बस्तियाँ, यमुना के दोनों तरफ़ बनी पुनर्वास बस्तियाँ, सम्पन्न हाउज़िंग सोसायटीज़ तथा जहाँ-तहाँ पैदा हो रही झोंपड़पट्टियों तक-सभी तरह की आवासीय श्रेणियाँ मौजूद हैं। औपचारिक और अनौपचारिक शहरी वातावरण के इस जटिल ताने-बाने में ग़रीब तबक़े के लोग मिश्रित आबादी और नितांत ग़रीब बस्तियों, दोनों जगहों में दिखायी देते हैं। दिल्ली की नौकरशाही और राजनीतिक अहलकारों ने जो पर्यावरणीय हल सुझाए हैं वह इस सिद्धांत पर आधारित हैं कि ये ग़रीब समुदाय, ख़ासतौर से सरकारी ज़मीन पर जबरन क़ब्ज़ा करके बैठ जाने वाले समुदाय, ही प्रदूषण के सबसे बुनियादी स्रोत हैं। विस्तृत पड़ताल करने पर यह मान्यता खोखली दिखाई देने लगती है। अगर पानी या साफ़-सफ़ाई सुविधाओं का सवाल उठाया जाए तो सच्चाई यह है कि सबसे ज़्यादा सब्सिडी शहरी अमीरों को मिल रही है और ग़रीबों को इन सुविधाओं का तुलनात्मक रूप से ज़्यादा बोझ उठाना पड़ रहा है।[16] ख़ासतौर से दिल्ली के प्रसंग में इस बात को साफ़ देखा जा सकता है कि शहर के 60 प्रतिशत से अधिक ग़रीब गंदे नालों और यमुना नदी के आसपास रहते हैं, जहाँ उन्हें गंदे नाले से ही काम चलाना पड़ता है। साफ़ पानी और सफ़ाई की उनके पास कोई सुविधा नहीं है। अगर कभी बाढ़ आती है या जलभराव की समस्या पैदा होती है तो बीमारियों का सबसे पहला हमला शहर के इन्हीं बाशिंदों को झेलना पड़ता है। ख़तरा सिर्फ़ इतना ही नहीं है — इन्हीं झोंपड़पट्टियों में छोटे स्तर की ऐसी प्रदूषक औद्योगिक इकाइयाँ भी चल रही हैं जो यहाँ के बाशिन्दों के स्वास्थ्य को गंभीर ख़तरा पैदा करती हैं।[17] ऐसे में किसी सामाजिक रूप से न्यायसंगत पर्यावरणीय एजेंडा के लिए ज़रूरी है कि हम उन तौर-तरीक़ों पर ध्यान दें जिनमें प्रदूषण, ग़रीबी और शहरी परिक्षेत्र एक दूसरे से जुड़ते हैं।

पर्यावरण के सवाल पर बहुलतावादी नज़रिए से विचार करने का एक तरीक़ा यह भी है कि मेहनतकशों और शहर के कबाड़कर्मियों एवं स्वास्थ्यकर्मियों के अंतर्संबंधों और विभेदों पर ध्यान दिया जाए। ऐतिहासिक रूप से श्रम और पर्यावरण को परस्पर जोड़ने वाले विमर्श दो क़िस्म के रहे हैं। एक विमर्श 'हानिकारक' व्यवसायों पर केंद्रित रहा है जिसमें बताया जाता है कि ये व्यवसाय अपने आसपास के क्षेत्र को नकारात्मक रूप से प्रभावित

करते हैं। दूसरा विमर्श 'ख़तरनाक' व्यवसायों से संबंधित रहा है और ऐसे व्यवसायों की बात करता है जहाँ की आंतरिक परिस्थितियों से उनमें काम करने वाले मेहनतकशों की सेहत पर बुरा असर पड़ता है। ज़ाहिर है कि आज हम जिस पर्यावरणीय संकट का सामना कर रहे हैं उसमें पहले वाले विमर्श पर ज़रूरत से ज़्यादा ध्यान देते चले जाने के कारण विमर्श की दूसरी धारा पूरी तरह हाशिए पर चली गई है। यह स्थिति तब है जबकि उड़ती सी नज़र डालने से भी साफ़ पता चल जाता है कि प्रदूषण फैलाने के नाम पर जिन उद्योगों को दोषी ठहराया गया है उनमें से बहुत सारी ऐसी छोटी इकाइयाँ हैं जिनमें कार्य-सुरक्षा के लिए कोई जगह नहीं होती।[18] इसी तरह, दिल्ली में अस्पतालों का कचरा भी एक गंभीर समस्या के रूप में सामने आया है। इस कचरे के बारे में अब तक किसी ने गंभीर चिंता नहीं जताई है। झुग्गी बस्तियों में इस कचरे के साथ 'खेलने' वाले बच्चे, कचरा बीनने वाले और सफ़ाई कर्मचारी — इनमें से किसी के पास भी इस कचरे के ख़तरनाक प्रभावों से बचने का रास्ता नहीं है। ये लोग मामूली सी चोट या संक्रमण की दशा में भी इस कचरे के नकारात्मक प्रभावों की चपेट में आ सकते हैं। इसके अलावा रोगी — ख़ासतौर से ग़रीब रोगी — भी रीसाइकिल्ड (पुनर्चक्रित) कचरे से बनी सुइयों, पट्टियों और नस में लगने वाली नलियों आदि का इस्तेमाल करने के कारण इस ख़तरे की ज़द में आ जाते हैं। हम कहना ये चाहते हैं कि शहरी स्वास्थ्य को किसी अमूर्त 'जनता' के नाम पर नहीं देखा जा सकता बल्कि इसे जन समाज के अलग-अलग दायरों के नज़रिए से देखा जाना चाहिए। तभी पता चलेगा कि पर्यावरणीय सुधार की चिंता किसको फ़ायदा पहुँचा रही है और किसको नुक़सान।

और अंत में, सीमाओं का सवाल। हरियाणा में स्थानांतरित की गई फैक्ट्रियाँ दिल्ली के वातावरण को प्रदूषित करती हैं। इससे क्रमशः यमुना भी दूषित होती है। यमुना का प्रदूषण उसके बहाव के रास्ते में आने वाले तमाम लोगों की सेहत को प्रभावित करता है। परंतु ऐसा लगता है कि इन तथ्यों के बावजूद पर्यावरण के बारे में क्षेत्रीय लिहाज़ से सोचने का तरीक़ा अब तक अस्तित्व में नहीं आया है और न ही दिल्ली की नियति को उसके नितांत पड़ोसी, मगर अपेक्षाकृत महत्वहीन माने जाने वाले इलाक़ों, से जोड़कर देखने की समझ पैदा हुई है। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि पर्यावरण से जुड़ी चिंताओं को केवल कचरे के निपटारे की बजाय इन बातों पर भी ध्यान देना चाहिए कि संसाधनों की व्यवस्था किस प्रकार की जा रही है। दिल्ली के निवासियों की पानी, भोजन, ऊर्जा और आमोद-प्रमोद संबंधी ज़रूरतों से आसपास के इलाक़ों पर भारी असर पड़ता है। पर्यावरणीय न्याय के बारे में चर्चा के लिए ज़रूरी है कि शहर के प्रदूषण और कचरे के मुद्दे के साथ-साथ इन संबंधों और उनके परिणामों पर भी विचार कर लिया जाए।

अनुवादः योगेंद्र दत्त

संदर्भ

1. *गार्डन सिटीज़ ऐण्ड टाउन प्लैनिग* (खंड 14, 1924) में एक अज्ञात टिप्पणीकार। इसे *रॉबर्ट होम, ऑफ़ प्लांटिग ऐण्ड प्लैनिग, द मेकिंग ऑफ़ ब्रिटिश कॉलोनियल सिटीज़* (लंदनः ई ऐण्ड एफएन स्पॉन), पृ. 145 पर उद्धृत किया गया है.
2. थॉमस ऑस्बॉर्न, "सिक्योरिटी ऐण्ड वाइटेलिटीः ड्रेंसः लिबरलिज़्म ऐण्ड पावर इन द नाइन्टींथ सेंचुरी", ऐंड्रयू बेरी एवं अन्य (संपादित) *फ़ूको ऐण्ड पॉलिटिकल रीज़न* (रटलेज, 1996) में.
3. नारायणी गुप्ता, *डेल्ही बिटवीन टू एम्पायर्स* (ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1981) एवं ऋतु प्रिया, "टाउन प्लैनिंग, पब्लिक हेल्थ ऐण्ड दि अर्बन पुअर", *इकनॉमिक ऐण्ड पॉलिटिकल वीकली*, 24 अप्रैल 1993. यह उद्धरण *रिपोर्ट ऑन रिलीफ़ ऑफ़ कंजेशन इन डेल्ही* (1936) से लिया गया है.
4. जगमोहन, *आईलैंड ऑफ़ ट्रूथ*, विकास पब्लिशिंग हाउस, 1978, 177.
5. ऋतुप्रिया, "टाउन प्लैनिंग".
6. तवलीन सिंह, *इंडिया टुडे*, 17 नवंबर, 1997.
7. प्रफुल्ल बिदवई, *फ्रंटलाइन*, 29 नवंबर 1996.
8. यह सिद्धांत श्रीराम फूड्स ऐण्ड फ़र्टिलाईज़र इंडस्ट्रीज़ से ओलियम गैस के रिसाव के प्रसंग में 1986 में स्थापित किया गया था जिसके अंतर्गत न्यायालय ने कहा था कि "क्योंकि पर्यावरणीय प्रदूषण, पारिस्थितिकीय विनाश और राष्ट्रीय संसाधनों को लेकर टकराव से संबंधित मामले बड़ी संख्या में न्यायालयों के सामने आने लगे हैं और क्योंकि इन मामलों में वैज्ञानिक एवं तकनीकी

आँकड़ों के आकलन व मूल्याँकन की ज़रूरत पड़ती है, इसलिए बेहतर होगा कि क्षेत्रीय आधार पर पर्यावरणीय न्यायालयों का गठन किया जाए और इन न्यायालयों में एक पेशेवर न्यायाधीश तथा दो पर्यावरण एवं पारिस्थितिकीय विज्ञान अनुसंधान समूहों के विशेषज्ञों को रखा जाए ताकि पर्यावरण से जुड़े मामलों पर फ़ैसलों के लिए विशेषज्ञता की आवश्यकता पूरी की जा सके".

9. एलेन पीटर्सन, "रिस्क, गवर्नेंस ऐण्ड द न्यू पब्लिक हेल्थ", *फ़ूको, हेल्थ ऐण्ड मेडिसिन,* रटलेज, 1997, पृ. 204 में.
10. इस वक्तव्य का आशय टॉक्सिक लिंक्स एवं सृष्टि जैसे दिल्ली स्थित स्वैच्छिक संगठनों द्वारा कचरे, ख़तरों और प्रदूषण के बारे में फैलाई गई सूचनाओं और अभियानों की अहमियत को कम करना नहीं है बल्कि हम सिर्फ़ इतना कहना चाहते हैं कि इस विषय में न्यायालयों और सीएसई एवं टेरी जैसी वैज्ञानिक संस्थाओं और सीएसआईआर व आईआईटी के विशेषज्ञों की तुलना में उनका प्रभाव सीमित रहा है.
11. न्यायमूर्ति ए.एस. आनंद, एन. सी. भंडारी स्मारक व्याख्यान माला, "पब्लिक इंट्रेस्ट लिटिगेशन ऐज़ एड टू प्रोटेक्शन ऑफ़ ह्यूमन राइट्स", 2001.
12. सावधानी का सिद्धांतः गंभीर या अपूरणीय क्षति की स्थिति में पूर्ण वैज्ञानिक निश्चय का अभाव भी पर्यावरणीय सुधार की दिशा में क़दम उठाने से नहीं रोक सकता। प्रदूषक ही हर्जाना भरेः जिनकी वजह से पर्यावरण को क्षति पहुँच रही है उसे ही इस क्षति से निपटने या उसका हर्जाना भरने की ज़िम्मेदारी भी लेनी चाहिए. सच को साबित करने का दायित्वः यह दायित्व उस व्यक्ति या निकाय के ऊपर आता है जो एक ऐसी गतिविधि शुरू करने जा रहा है जो पर्यावरण के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकती है. इस सिद्धांत में निहित है कि जो लोग नकारात्मक रूप से प्रभावित होने जा रहे हैं उन्हें प्रस्तावित गतिविधियों के विषय में अपनी चिंताओं को साबित करने की ज़रूरत नहीं है. इनमें से कुछ सिद्धांतों पर चर्चा के लिए देखें, राजीव धवन, "द वेल्थ ऑफ़ नेशंस रिविज़िटेड", *सेमिनार*, अगस्त, 2000.
13. दिल्ली में एक-दूसरे को चुनौती देते पर्यावरणीय हितों के बीच टकराव की गंभीरता साफ़ दिखाई देती है. इस बात का सबसे बड़ा उदाहरण सुखदेव नगर झुग्गी-झोंपड़ी बस्ती के निवासियों के बीच सार्वजनिक पार्क में टट्टी-पेशाब को लेकर चल रहे झगड़े में सामने आया है. बस्ती के लोग इस पार्क को टट्टी-पेशाब के लिए इस्तेमाल कर रहे थे जबकि अशोक विहार के निवासियों की राय में उनके पार्क का इस तरह इस्तेमाल करना ग़लत है. इस टकराव में आख़िरकार पुलिस द्वारा गोलीबारी की नौबत भी आ पहुँची.
14. उर्लिक बेक, *रिस्क सोसायटी,* सेज, 1992, पृ. 36.
15. सीएसई, *हेल्थ ऐण्ड एनवायर्नमेंट न्यूज़लेटर*, नवंबर 2001.
16. अमिताभ कुंडू, *इन द नेम ऑफ़ दि अर्बन पुअर,* सेज पब्लिकेशंस, 1993.
17. ग़रीबी और पर्यावरणीय क्षय के बीच इस संबंध को कई ट्रेड यूनियनों और साझा मंच जैसे संगठनों ने भी रेखांकित किया है.
18. उदाहरण के लिए देखें, "हाउ मेनी एरर्स डज़ टाइम हैव पेशेंस फ़ॉर?", जनवादी अधिकार मंच, अप्रैल, 2001.